अनुयोगद्वार सूत्र में षडावश्यक के गुणनिष्पन्न नाम

अर्चना शिष्या साध्वी डॉ. हेमप्रभा 'हिमांशु'

अनात्मभाव से आत्मभाव में प्रतिक्रांत होना 'प्रतिक्रमण' है। अनुयोगद्वारसूत्र में षडावश्यकों के सावद्ययोगविरति आदि गुणनिष्पन्न नाम प्राप्त होते हैं। उन्हीं का विवेचन साध्वीजी ने आत्मगुणों से संपृक्त प्रतिक्रमण के रूप में किया है। इस विवेचन से प्रतिक्रमण के हार्द को समझकर तदनुरूप प्रतिक्रमण करने का संदेश प्राप्त होता है। *-सम्पादक*

आगम-साहित्य में अंग सूत्रों के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान 'आवश्यक सूत्र' को दिया गया है, क्योंकि प्रस्तुत सूत्र में निरूपित सामायिक से ही श्रमण जीवन का प्रारम्भ होता है। प्रतिदिन प्रातः सन्ध्या के समय श्रमणजीवन की जो आवश्यक (प्रतिक्रमण) क्रिया है, उसकी शुद्धि और आराधना का निरूपण इसमें किया गया है। अतः अंगों के अध्ययन से पूर्व आवश्यक का अध्ययन आवश्यक माना गया है।

'अनुयोगद्वार सूत्र' में मंगलाचरण के पश्चात् आवश्यक अनुयोग का उल्लेख मिलता है। यद्यपि आवश्यक सूत्र के पदों की इसमें व्याख्या नहीं की गई है तथापि आवश्यक सूत्र की व्याख्या के बहाने ग्रंथकार ने सम्पूर्ण आगमों के रहस्यों को समझाने का प्रयास किया है। प्रस्तुत सूत्र में 'आवश्यक' का स्वरूप-निरूपण, आवश्यक के पर्यायवाची शब्द, द्रव्य एवं भाव आवश्यक के सुन्दर स्वरूप-विवेचन के साथ ही आवश्यक के विभिन्न प्रकारों का वर्णन किया गया है।

आवश्यक के छह अर्थाधिकार

आवश्यक के छह प्रकार बताये गये हैं- १. सामाइयं २. चउवीसत्थओ ३. वंदणं ४. पडिक्कमणं ५. काउस्सग्गो ६. पच्चक्खाणं।

'अनुयोगद्वार सूत्र' में इन षडावश्यक के प्रकारान्तर से छह गुणनिष्पन्न नाम बताए गए हैं। आवश्यक की साधना-आराधना द्वारा जो उपलब्धि होती है अथवा जो करणीय है, उसका बोध इनके द्वारा होता है। इनमें केवल नाम भेद है, अर्थ भेद नहीं है-

सावज्जजोगविरई, उक्कित्तण गुणवओ य पडिवत्ती।
खलियस्स णिंदणा, वणतिगिच्छ-गुणधारणा चेव॥

-अनुयोगद्वार सूत्र, सूत्र संख्या ७३, गाथा ६

१. सावद्ययोगविरति- हिंसा, असत्य, आदि सावद्य योगों से विरत होना सावद्ययोग विरति है। सामायिक करने वाला साधक अपनी आत्मा को हिंसादि के कारण होने वाली मानसिक दुर्वृत्तियों से मन, वाणी और

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शरीर को हटाकर आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर केन्द्रित करता है। जिससे उसके कलुष दूर हो जाते हैं एवं राग-द्वेष के दुर्भाव मिट जाते हैं। उसकी शत्रु व मित्र के प्रति समदृष्टि हो जाती है। उसे शत्रु के प्रति न तो क्रोध आता है और न ही मित्र के प्रति अनुराग। वह विषमभाव को छोड़कर समभाव को धारण कर लेता है। परिणामस्वरूप उसका जीवन अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त होकर सुख, शांति एवं समभाव की लहरों में संप्रवाहित होने लगता है अर्थात् उसकी आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में रमण करने लगती है। यही सामायिक का सार है।

आवश्यकनिर्युक्ति में कहा गया है-

सावज्जजोग-विरओ, तिगुत्तो छसु संजओ।
उवउत्तो जयमाणो, आया सामाइयं होइ॥

जब साधक सावद्य योग से विरत होता है, मन, वचन एवं काय की गुप्ति से युक्त होता है, छह काय के जीवों के प्रति संयत होता है, स्व-स्वरूप में उपयुक्त होता है अर्थात् यतना में विचरण करता है, तब वह स्वयं आत्मा ही सामायिक है।

उत्तराध्ययन सूत्र के २९वें अध्ययन में गौतम स्वामी प्रभु महावीर से पृच्छा करते हैं-

सामाइएणं भंते! जीवे किं जणयइ?
सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइ॥

भगवन्! सामायिक करने से इस आत्मा को क्या लाभ होता है?

सामायिक करने से सावद्य योग अर्थात् पापकर्म से निवृत्ति होती है।

इस प्रकार सामायिक साधना सर्वसावद्य योग की विरति का प्रतिपादक होने से 'सामायिक आवश्यक' को 'सावद्य योग विरति' कहा गया है।

२. **उत्कीर्तन**- उपकारी पुरुषों के गुणों की स्तुति करना, उनके गुणों का कीर्तन करना।

सावद्ययोग से निवृत्ति के पश्चात् राग-द्वेष रहित महान् आत्माओं का गुणानुवाद आवश्यक है। त्याग-वैराग्य के महान् आदर्श पुरुष तीर्थंकर भगवान् वीतराग देव ही होते हैं। ऐसे परमोपकारी चौबीस तीर्थंकरों के गुणों की स्तुति करना, उनके गुणों का संकीर्तन करना ही उत्कीर्तन/ चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक है।

तीर्थंकर की स्तुति-स्तवन करने का अर्थ है- उच्च नियमों, सद्गुणों एवं उच्च आदर्शों का स्मरण करना।

इस प्रकार चतुर्विंशतिस्तव आवश्यक में चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन-गुणानुवाद किए जाने से वह उत्कीर्तन रूप है। यह आवश्यक गुणों के प्रति अनुराग के लिए आलम्बन स्वरूप है।

३. **गुणवत्प्रतिपत्ति**- सावद्ययोग विरति की साधना में तत्पर गुणवान् अर्थात् मूल एवं उत्तरगुणों के धारक संयमी निर्ग्रन्थ की प्रतिपत्ति- आदर सम्मान करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकर देवों के बाद गुरु ही आध्यात्मिक साम्राज्य के अधिपति होते हैं। सच्चे सत्गुरु स्वयं संसार-सागर को तैरकर पार करने में समर्थ होते हैं तथा दूसरों को पार उतारने की क्षमता रखते हैं। वे केवल वाणी से ही नहीं वरन् जीवन से भी मूक शिक्षा प्रदान करते हैं। वे चारित्र से सम्पन्न होते हैं तथा अपनी आत्मसाधना के लिए अन्दर व बाहर से एकरूप होते हैं। अपने साधक शिष्यों को मन, वचन और तन से पूर्ण शुद्ध, पवित्र एवं उच्च बनाने के उद्देश्य से वे पूर्ण ब्रह्मचर्य एवं संयम-साधना कराते हुए उन्हें लौकिक और पारमार्थिक ज्ञान-दान प्रदान करते हैं।

ऐसे हितोपदेशी गुणी गुरुजनों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने हेतु उनका विनम्र हृदय से वन्दन-अभिनन्दन किया जाता है।

वन्दन करने का अर्थ है- मन से नमन, वचन से स्तवन और तन से अभिवादन। अर्थात् मन, वचन और काया के द्वारा गुणों के धारक गुरु के प्रति भक्ति-स्तवन-आदर-सत्कार-सम्मान-बहुमान प्रकट करना। यही वन्दना आवश्यक की साधना है।

इस प्रकार सावद्य प्रवृत्तियों से विरत होकर साधना में संलग्न गुणी-पुरुषों, मूल गुणों एवं उत्तरगुणों से सम्पन्न संयमी साधकों के प्रति आदर-सत्कार बहुमान करने रूप होने से 'वन्दना आवश्यक' का 'गुणवत्प्रतिपत्ति' नाम सार्थक है।

४. **स्खलित निन्दा-** संयम की साधना-आराधना करते हुए प्रमादवश जो स्खलना, अतिचार या दोष-सेवन हो जाए, विशुद्ध अन्तर्भावना से उसकी निन्दा करना स्खलित निन्दा है, जो प्रतिक्रमण रूप है।

अपने अन्दर ही अपनी खोज को प्रतिक्रमण कहा गया है। संयम में लगे हुए दोषों/पापों को बुरा समझकर उनकी निन्दा करना, पश्चात्ताप करना और भविष्य में उन दोषों का सेवन न करने के लिए सतत जागरूक रहना ही वास्तव में प्रतिक्रमण है।

प्रतिक्रमण का अर्थ है- अनात्मभाव से आत्मभाव में प्रतिक्रांत होना या लौटना। अर्थात् यदि किसी कारण विशेष से आत्मा संयम क्षेत्र से असंयम क्षेत्र में चला गया हो तो उसे पुनः संयम क्षेत्र में लौटा लाना प्रतिक्रमण है।

साधक जीवन को संपुष्ट करने के लिए प्रतिक्रमण अमृत है। यह आत्म-संशुद्धि का परम साधन है। आत्मविशुद्धि के लिए यह परम आवश्यक है।

'प्रतिक्रमण आवश्यक' मूलगुणों एवं उत्तरगुणों से स्खलित होने पर लगे अतिचारों का निराकरण करने वाला होने से 'स्खलित निन्दा' कहा गया है।

५. **व्रण-चिकित्सा-** व्रण का अर्थ है घाव। संयम की आराधना में प्रमादवश लगने वाले अतिचार या दोष आध्यात्मिक व्रण हैं अर्थात् वे संयम रूप शरीर के घाव हैं।

जिस प्रकार मरहम-दवा आदि से शारीरिक व्रण या घाव की चिकित्सा की जाती है, उसी प्रकार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कायोत्सर्ग रूप औषध के प्रयोग से आध्यात्मिक व्रण या दोष का निराकरण किया जाता है। अतः इसे व्रण-चिकित्सा कहते हैं।

कायोत्सर्ग वह औषध है, वह मरहम है जो आत्मिक घावों को साफ कर देता है और संयम रूपी शरीर को अक्षत बनाकर परिपुष्ट करता है। कायोत्सर्ग एक प्रकार का प्रायश्चित्त है, जो संयमी-जीवन को शुद्ध-विशुद्ध-परिशुद्ध बनाता है।

'आवश्यक सूत्र' के उत्तरीकरणेणं सूत्र में यही कहा गया है- 'तस्स उत्तरीकरणेणं, पायच्छित्तकरणेणं, विसोहीकरणेणं, विसल्लीकरणेणं पावाणं कम्माणं निग्घायणट्ठाए ठामि काउस्सग्गं॥

अर्थात् संयमी-जीवन को विशेष रूप से परिष्कृत करने के लिए, प्रायश्चित्त करने के लिए, विशुद्ध करने के लिए, आत्मा को शल्य रहित बनाने के लिए, पाप कर्मों के निर्घात के लिए कायोत्सर्ग करता हूँ।''

इस प्रकार संयम-साधना में कायोत्सर्ग करके शरीर पर ममत्व एवं रागभाव का त्याग करके अतिचारजन्य भाव व्रण (घाव-दोष) की प्रायश्चित्त रूप चिकित्सा करने के कारण 'कायोत्सर्ग आवश्यक' को 'व्रण चिकित्सा' कहा गया है।

६. गुणधारणा- प्रत्याख्यान आवश्यक मूल और उत्तरगुणों को निरतिचार धारण करने रूप होने से गुणधारणा रूप है।

प्रायश्चित्त से आत्मशोधन द्वारा दोषों का सम्मार्जन करके आत्मा के मूल और उत्तरगुणों को अतिचार रहित-निर्दोष धारण-पालन करना गुणधारणा है, जो प्रत्याख्यान द्वारा समायोजित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि छह ही आवश्यक सामायिकादि के क्रमशः सावद्ययोग विरति आदि पर्याय शब्द अर्थ एवं भाव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि अनुयोगद्वार सूत्र में वर्णित षडावश्यक के पर्याय नाम गुणनिष्पन्न एवं सार्थक हैं।

-आगम प्रकाशन समिति, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राज.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org